तृतीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकार और उनके प्रमुख उपन्यासों का संक्षिप्त विवरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के प्रमुख मुस्लिम रचनाकारों के साहित्य में एक पीड़ा दिखाई देती है। जिसका सीधा संबंध इनकी पहचान के साथ जुड़ता है। विभाजन का दंश एक शूल की तरह इन रचनाकारों के सीने में चुभता है। एक प्रकार की असुरक्षा की भावना का बोध इनके द्वारा रचित साहित्य में परिलक्षित होता है। विभाजन के बाद ऐसा लगता है सम्पूर्ण मुस्लिम समाज को विभाजित अस्तित्व का शिकार होना पड़ता है। एक तरफ नए देश पकिस्तान का आकर्षण और दूसरी तरफ विस्थापन और अपनों से बिछड़ जाने की पीड़ा की अभिव्यक्ति इन रचनाकारों के यहाँ दिखाई देती है। विभेदकारी राजनीति का शिकार मुस्लिम समाज गहरी पीड़ा और आशंका से घिरे हुए दिखाई देते हैं। आजादी के बाद भारत जिस तरह से सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन का शिकार होता दिखाई देता है उस क्रम में अल्पसंख्यक समाज पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

विभाजन के पश्चात कथा साहित्य में भारतीय मुसलमानों की संवेदना का अत्यंत सूक्ष्म और संवेदनशील चित्रण मिलता है। इस समाज के भीतर उपजी असुरक्षा की भावना और उनके मनोविज्ञान का चित्रण करने में स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास सफल रहा है। आजादी के बाद से साहित्य में काफ़ी परिवर्तन नज़र आता है जिसमें मुस्लिम रचनाकरों का योगदान अतुलनीय है। इसमें कोई दो राय नहीं कि उपन्यास को एक सशक्त विधा बनाने में प्रेमचंद जी की अहम् भूमिका रही है। उनके उपन्यासों में नारी की समस्या, जात-पात की समस्या, बेरोजगारी की समस्या, गरीबी, भ्रष्टाचारी, धार्मिक कट्टरता, किसान जीवन की समस्या आदि देखि जा सकती है। उनके द्वारा शुरू की गयी यथार्थपरक उपन्यास हिंदी साहित्य को सुदृढ़ करता है। इसके पश्चात धीरे-धीरे उपन्यास के कथ्य में विविधता आती जाती है तथा आजादी के बाद के उपन्यासों में कथ्य, तकनीक और भाषिक-चयन में काफ़ी परिवर्तन दिखने लगता है। साठ के बाद हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में मुस्लिम रचनाकारों के आ जाने के बाद साहित्य में मुस्लिम समाज के परिवेश को बहुतायत जगह प्राप्त

होती है। इसके पहले तक आंशिक रूप में कहीं कहीं पात्रों के रूप में दिखता है जिसके समाज एवं व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता नहीं दिखाई देता है। मुस्लिम रचनाकार इन कमियों को पूरी करता है। ये उपन्यासकार यथार्थ रूप में मुस्लिम समाज के परिवेश को साहित्य के पटल पर ला खड़ा करता है। शानी के 'काला जल' में सर्वप्रथम मुस्लिम समाज के आन्तरिक एवं सम्पूर्ण जीवन देखने को मिलता है। इन उपन्यासकारों के माध्यम से ही मुस्लिम समाज की परिस्थितयों को ठीक-ठीक समझने में मदद मिलती है।

इनके उपन्यासों की खास बात यह भी रही है कि इनके यहाँ भाषा के सरल सहज रूप का प्रयोग हुआ है। इनके पात्रों की भाषा यथार्थपरक दृष्टिगोचर होती है। राही मासूम रज़ा, शानी, बदीउज़्ज़माँ आदि की भाषा को देखें तो इनके यहाँ भाषा में स्थानीय रंग-रूप देखने को मिलता है। इनके उपन्यासों में सिर्फ़ पुरानी तकनीक का इस्तेमाल न होकर नयी तकनीक का इस्तेमाल हुआ है। अतः स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों के उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से पहले इन उपन्यासकारों एवं उनके उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय जान लेना अनिवार्य हो जाता है।

3.1 राही मासूम रज़ा:

आजादी के बाद के प्रमुख रचनाकरों में राही मासूम रज़ा का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। देश को विभाजित करने वाली शक्तियों तथा संस्थाओं के विरोध में राही मासूम रज़ा सदैव अपनी आवाज उठाते रहे हैं। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के गंगौली में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा आदि गाजीपुर में हुई और उच्च शिक्षा के लिए अलीगढ़ आए। यहीं से पीएच.डी करने के पश्चात उर्दू विभाग में कार्यरत रहें। साम्यवादी दृष्टिकोण के समर्थक बनकर उभरे और अपने साहित्य में भी इन्हीं विचारों को प्रचारित करते रहें। इनकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण इनके साहित्य में व्यक्त धर्मनिरपेक्षता और स्पष्टवादी दृष्टिकोण था। राही मासूम रज़ा हिंदी, उर्दू दोनों में

लिखते थे। अद्भुत प्रतिभा के धनी राही जी अपने विद्यार्थी जीवन से ही साहित्य साधना के कार्य से जुड़ गए थे। शायरी, ग़ज़लें, कहानी, उपन्यास, फिल्म आदि जिस किसी काम को वो करते उसे पूरी निष्ठा एवं ईमानदारी से करते थे। उनकी लेखनी की जो खास बात थी वह यह थी कि वे एक साथ कई कई विषयों पर लिख सकते थे। उनकी यही प्रतिभा उन्हें विशेष और खास बनाती है। उन्होंने लगभग तीन सौ फिल्मों के संवाद लिखें। उनके कुछ प्रमुख फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं - 'मैं तुलसी तेरे आँगन की', 'रास्ते का पत्थर', 'इन्साफ का तराजू', 'गोलमाल' आदि।

इनका उपन्यास 'आधा गाँव' 1966 में प्रकाशित हुआ था। यह एक उत्कृष्ट रचना के रूप में हिंदी साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता दिखाई देता है। इस उपन्यास को मुस्लिम समाज और उसकी सामाजिक संरचना को व्यक्त करने के लिए जाना जाता है। आर्थिक विश्लेषण की दृष्टि से देखा जाए तो मुसलमानों की स्थिति हिन्दुओं से कहीं अलग नहीं है। राही मासूम रज़ा ने अपने इस उपन्यास में धार्मिक और आर्थिक भेदभाव की समस्या को बारीकी से दर्शाया है। एक स्तर पर यह हिन्दू और मुसलमान की नहीं वरन सम्पूर्ण भारतीय समाज का यथार्थ बनकर उभरता है। इनका उपन्यास टोपी शुक्ला (1968) भी इसी प्रकार का उपन्यास है। इसके विषय में कहा जाता है कि इसमें कोई नायक नहीं है अपितु समय ही इसका नायक है। इस उपन्यास में लेखक ने बद्री नरायण शुक्ला यानी टोपी शुक्ला के माध्यम से आजाद भारत में होने वाले आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक बदलाव को दर्शाने का काम किया है। आजादी के बाद भारतीय समाज में हिन्दू-मुस्लिम संबंधों के प्रति बदली मानसिकता को दिखाते हैं। साम्प्रदायिकता की आग में झुलसता टोपी शुक्ला आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो जाता है। इस उपन्यास के सन्दर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "टोपी शुक्ला हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की समस्या को उसके सही सन्दर्भों में देखने और चित्रित करने का एक साहसपूर्ण प्रयास है। राही ने इस समस्या को केवल चिंतन की खिड़की से नहीं अनुभव और संवेदना की नली से भी देखा है। राही हिन्दू-मुस्लिम संबंध की वैसी स्थितियों के भोक्ता रहे हैं जो किसी हिन्दू लेखक के लिए संभव नहीं था।

पर राही स्थिति के भोक्ता के साथ-साथ उसके तटस्थ विश्लेषक के रूप में सामने आते हैं।"[1] इस उपन्यास में लेखक ने बहुत ही साधारण ढंग से देश में साम्प्रदायिक, अलगाववाद तथा बेरोजगारी की समस्या से उपजी स्थितियों का सजीव चित्रण किया है। 1970 में प्रकाशित 'ओस की बूंद' उपन्यास भी विभाजन की त्रासदी को उजागर करता है। मुस्लिम लीग की राजनीति का शिकार भारतीय मुसलमान समाज लगातार अकेला पड़ता दिखाई देता है। उपन्यास के पात्र वजीर हसन और हयातुल्लाह पढ़ें-लिखे बुद्धिजीवी पात्र हैं। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के निर्माण में असमंजस का शिकार भारतीय इंसान भटकाव का शिकार दिखाई देता है। "दीनदयाल मुसलमानों से झल्लाए हुए थे। वज़ीर हसन हिन्दुओं से डरे हुए थे। झल्लाहट का रंग हो गया और डर का रंग सब्ज़। परन्तु दोनों मिलते तो अपने डर या अपनी झल्लाहट की बातें नहीं करते।"[2] वजीर हसन के पुरखों द्वारा बनाया गया मंदिर को लेकर बबाल हो जाता है। वजीर हसन मंदिर में फेके गए शंख को यह सोचकर उठाता है कि "हिंदुस्तान का इतिहास और उसका भविष्य दोनों ही मंदिर में खड़े उन्हें गौर से देख रहे हैं,"[3] परन्तु साम्प्रदायिकता के आगे उसकी एक न चलती है। शंख फूंकते ही पी.ए.सी. का जवान उसे गोली मार देता है और समाचार में खबर यह छपती है कि "मंदिर की मूर्ति को तोड़ने की कोशिश करता हुआ एक मुसलमान पी. ए. सी की गोली से मारा गया।"[4] इस खबर ने पूरे शहर में आग फैला दी जिससे दंगे और मुखर हो गए। मंदिर का यह मामला कोर्ट तक घसीटा जाता है। शहला भी इस साम्प्रदायिकता की चपेट में आ जाती है और उसे संरक्षण देने वाला बेहाल शाह उसका बलात्कार भी करता है। शहला की मृत्यु निश्चय ही यह सन्देश देती है कि उसकी मौत महज़ एक आदमी की मौत नहीं वरन एक संस्कृति एवं परंपरा की मौत है। राही के उपन्यास गहरे अर्थों में साम्प्रदायिकता और अलगाववादी राजनीति की सीमाओं को रेखांकित करने का सामर्थ्य रखता है।

इनके साहित्य में मानवीय-मूल्यों, स्त्री-जीवन की त्रासदी तथा आजादी के बाद भारतीय समाज में निर्मित परिस्थितियों का सजीव चित्रण मिलता है। साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुस्लिम

एकता इनके साहित्य की केन्द्रीय विषयवस्तु रही है। इन्होंने हिम्मत जौनपुरी (1969) उपन्यास में एक ऐसे व्यक्ति की जीवन-गाथा को प्रस्तुत किया है जो तमाम उम्र संघर्षों के बीच व्यतीत करता है। जो नितान्त अकेला है। हिम्मत जौनपुरी इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है। हिम्मत का परिवार जौनपुर का रहने वाला है परन्तु वह वर्तमान में गाजीपुर का निवासी है। उसके पूर्वज रईस थे। दिलगीर जौनपुरी की एक मसनवी की चर्चा विस्तार से करके लेखक ने गंगा-जमुनी तहजीब पर एक बहस छिड़ने का काम किया है। वे कहते हैं कि "इसी हिंदुस्तान में यह भी होता था कि एक ही आदमी मस्जिद भी बनवाता था और 'मस्न्वीं-दरबयाने-इस्के-रामो-सीता' भी लिखता था।"[5] उपन्यास में इस बात की चर्चा का आना यह दर्शाता है कि लेखक अतीत की मीठी स्मृति को याद करते हैं। उनका मानना है कि मस्जिद और मंदिर का झगड़ा बहुत पुराना नहीं है। हमें अतीत की अच्छी चीजों को भूलना नहीं चाहिए। वे आगे लिखते हैं कि "राम और मस्जिद का वैर पुराना नहीं है। यदि इनमें झगड़ा होता, तो रसखान ने मक्का के गड़ेरिये की जगह ब्रज के गड़ेरिये को अपने काव्य की आत्मा क्यों बनाया होता और सूफियों ने कृष्ण की काली कमली अपने मोहम्मद को उढ़ाकर उन्हें काली कमली वाला क्यों कहा होता?"[6] इस उपन्यास में लेखक ने हाशियाकृत समाज के जीवन की त्रासदी को दर्शाने की कोशिश की है। हिम्मत एक वैश्या का बेटा है जिसकी कीमत उसे चुकानी पड़ती है। इस सन्दर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "हिम्मत जौनपुरी एक ऐसे मुसलमान की गाथा है जो भारत की मिट्टी से पैदा हुआ है और वहीं की मिट्टी में मिल जाता है। वह अपने गाजीपुर को उतना ही प्यार करता है जितना कोई हिन्दू कर सकता है। वह बम्बई जाकर भी गाजीपुर को नहीं भूलता और मरने के समय उसकी जबान पर गाजीपुर ही रहता है।"[7] बम्बई में रहकर गाजीपुर के प्रति इतना लगाव हिम्मत की अपनी जन्मभूमि के प्रति लगाव को दर्शाता है। लेखक यह सिद्ध करते हैं कि धार्मिक संवेदना पर सदैव ही मानवीय संवेदना भारी पड़ जाती है। एक मनुष्य के रूप में हमारे भीतर कुछ सामान्य मानवीय विशेषताएं हैं

जिनसे मुक्ति संभव नहीं है। यही मानवीय संवेदना एवं संवेदनशील भावनाएं हिम्मत को उसकी मातृभूमि की तरफ खींचकर ले आती हैं।

इस क्रम में 'दिल एक सादा कागज' (1973) तथा 'सीन 75' (1977) क्रमशः बंगाल विभाजन तथा उच्चतर मानवीय मूल्यों के इर्द-गिर्द घूमता नज़र आता है। इस उपन्यास की रचना उस वक्त हुई जब बांग्लादेश नया नया अस्तित्व में आया था। इस मुक्ति संग्राम में भारत ने बांग्लादेश का साथ दिया था। 'दिल एक सादा कागज' एक ऐसे परिवार की कहानी है जो भारत से पाकिस्तान चला जाता है यह सोचकर कि भारत अब मुसलमानों के लिए महफूज नहीं है। परन्तु जब वहाँ जाकर भी ये लोग मुहाजिर कहलाये और वहाँ खप नहीं पाए तो वापिस हिंदुस्तान शरणार्थी के रूप में आते हैं। रफ्फन के भाई भाई जानू भी इसका शिकार होता है। बांग्लादेश से वह भी भागकर मेरठ के कैम्प में दूसरे मुसलमान रिफ्यूजियों के साथ चले आते हैं। "वह शरणार्थी बनकर यहाँ से गए थे। वह शरणार्थी बनकर यहाँ वापस आ गए थे।"[8] रफ्फन इस उपन्यास का नायक है जिसका बचपन जैदिविला में गुजरा था। बड़ा होकर वह शिक्षक बनता है फिर मुंबई जाकर पटकथा लिखने का काम करता है। उसके परिवार के सभी डर से पाकिस्तान चला जता है जिसमें उनके पिता कर्नल, भाई जानू, भाभी जन्नत आदि शामिल है। रफ्फन को भी पाकिस्तान आने को कई बार कहा जाता है परन्तु वह हिंदुस्तान छोड़कर नहीं जाता है। इस उपन्यास के बारे में गोपाल राय लिखते हैं कि "भारत के मुसलमान यह सोचकर कि हिंदुस्तान में मुसलमानों की इज्जत-आबरू महफूज नहीं है और पाकिस्तान में उन्हें जीविका के बेहतर साधन तथा सम्मानपूर्ण सामाजिक जिन्दगी मिलेगी, पाकिस्तान चले गए; पर उनका मोहभंग होने में पच्चीस साल भी नहीं लगे। अंततः उन्हें ज़लील होना पड़ा और एक भयानक विनाशलीला के बाद पूर्वी पाकिस्तान बांग्लादेश में बदल गया। इसके बाद भी पूर्वी पाकिस्तान गए मुसलमानों का दुःस्वप्न समाप्त नहीं हुआ और बिहार और उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को अपनी आबरू, संपत्ति और सामाजिक जिन्दगी खोकर शरणार्थी और मुहाजिर बनना पड़ा।"[9] भाई जानू बांग्लादेश में अपनी

पत्नी खो चुका था, उसकी पत्नी जनरल न्याजी के साथ भाग गयी थी और न्याजी के सिपाही उसकी बेटी को नोच खाई थी। "भाई जानू के साथ शहरबानो भी आयी थी। हू-ब-हू जन्नत बाजी जैसी थी। जनरल न्याजी की इस्लामी फ़ौज के सिपाहियों ने उसके साथ कई रातें गुजारी थीं। और वह माँ बनने वाली थी।"[10] राही मासूम रज़ा एक सशक्त कथाकार है उन्होंने इस उपन्यास में विभाजन की त्रासदी को दिखाने का प्रयास किया है। जिसमें मुसलमानों के मोहभंग का यथार्थपरक चित्रण हुआ है।

'सीन 75' उपन्यास में लेखक ने मुम्बई की माया में तड़पती हुई नई प्रतिभाओं को दिखाया है। इस उपन्यास में व्यवसायिक रूप से कला का इस्तेमाल कर रही फ़िल्मी दुनिया के संवेदनहीन समाज का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास के बहाने लेखक छद्म प्रगतिशील लोगों की सीमाओं को उजागर करते दिखाई देते हैं। अपनी धार्मिक कट्टरता और दूसरों के प्रति असहिष्णुता के कारण किस प्रकार फ़िल्मी दुनिया का समाज दोहरे जीवन-मूल्यों का वरन करता है इस पर प्रकाश डाला गया है। कटरा बी आर्जू (1978) भी इसी प्रकार का उपन्यास है जो 1975 में इंदिरा गाँधी की सरकार द्वारा लागू की गयी इमरजेंसी की स्थिति में इलाहबाद के कटरा में रह रहे जनमानस का चित्रण किया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता और उसकी साझी विरासत की प्रतिबिम्ब कटरा को लम्बे समय से प्रभावित करता रहा है। आपात काल का वो पूरा समय सीमा कितना भयानक होता है उसका जवाब कटरा के अस्त व्यस्त जीवन से मिलता है। इस इमरजेंसी ने वहाँ के लोगों के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला था उनके सारे बुने हुए सपने ऊन की तरह खुल जाते हैं। शम्सु का पुत्र अहमद पाकिस्तान चला गया होता है। उसके बूढ़े कन्धों पर उनकी जवान बेटियों का बोझ पड़ जाता है। कुल मिलाकर 'कटरा बी अर्जू' राही मासूम रज़ा का एक संवेदनशील उपन्यास है जिसमें कटरा देश का और वहाँ की जनता की समस्या पूरे देश की जनता की समस्या के प्रतीक के रूप में उभर कर सामने आती है।

संदर्भ सूची:

1. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-294
2. राही मासूम रज़ा, ओस की बूंद, पृष्ठ-30
3. वही, पृष्ठ-51
4. वही, पृष्ठ-51
5. राही मासूम रज़ा, हिम्मत जौनपुरी, पृष्ठ-8
6. वही, पृष्ठ-8
7. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-294
8. राही मासूम रज़ा, दिल एक सादा कागज, पृष्ठ-210
9. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-293
10. राही मासूम रज़ा, दिल एक सादा कागज, पृष्ठ-210

3.2 बदीउज़्ज़माँ

साठोत्तरी रचनाकरों में बदीउज़्ज़माँ का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इनके साहित्य में प्रशासनिक तंत्र की हास्यस्पदता, सामाजिक व्यवस्था की जड़ता, विस्थापन तथा साम्प्रदायिकता आदि का चित्रण दिखाई देता है। 1945 में इनकी पहली उर्दू कविता 'टिकटिकी' का प्रकाशन होता है। बदीउज़्ज़माँ साहित्य में साठोत्तरी दौर में आते हैं। बदीउज़्ज़माँ एक ऐसे समाज की उपज हैं जो भारत में हमेशा दौयम दर्जे पर खड़ा रहा। इसी समाज का दर्द इनके साहित्य में विशेष रूप से झलकता है। बदीउज़्ज़माँ अपने क्षेत्र के मुसलमानों की स्थिति के माध्यम से भारत के हाशिये के समाज का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। 1960 के बाद इन्होंने हिंदी साहित्य में लेखन-कार्य करना आरंभ किया। वे नाटक, कहानी, उपन्यास तथा समीक्षा आदि विधा में पारंगत थे।

इन्होंने प्रमुख रूप से पाँच उपन्यासों की रचना की है जिसमें 'एक चूहे की मौत' (1971), 'छाको की वापसी' (1975), 'अपुरुष' (1976) 'छठा तंत्र' (1977) तथा 'सभापर्व' (1994) प्रमुख है। 'एक चूहे की मौत' उपन्यास आधुनिक शासन तंत्र की सीमाओं की व्याख्या है। इसमें 'चूहे' दफ्तर के फाइलों, 'चुहाखाना' दफ्तर तथा 'चूहेमार' दफ्तर में काम करने वाले लोगों का प्रतीक है। सरकारी कार्यलयों के उबाऊ परिवेश तथा अपने पद के हिसाब से काम करने वाले सरकारी बाबुओं के जीवन का चित्रण करते हुए लेखक भ्रष्ट सरकारी तंत्र की सच्चाई उजागर करने का प्रयास करते हैं। यह एक प्रयोगात्मक उपन्यास है जिसमें चरित्रों के नाम सांकेतिक हैं और किसी एक अक्षर से रखे गए हैं। ये कामकाजी बाबू वर्गों में विभाजित है कोई छोटे चूहेमार है तो कोई बड़े चूहेमार। सबका काम निर्धारित है जिसे अनुशासन में रहकर करना पड़ता है। यहाँ काम करने वाले सभी एक-दूसरे से इर्ष्या करते हैं लेकिन सामने से दोस्त होने का ढोंग करते हैं। 'ग' इस व्यवस्था से घिन करता है उसे वह चुनौती देता है और चूहे मारने का काम छोड़कर अपनी कलाकारी पर ज्यादा ध्यान देता है। वह एक चित्रकार है परन्तु उसकी बनाई तस्वीर किसी को समझ नहीं आती इसीलिए उसकी तस्वीर बिकती नहीं है। अंततः उसे आत्महत्या कर लेना

पड़ता है। उसके आत्महत्या करने के बाद उसकी तस्वीर को 'प' नामक भ्रस्ट व्यक्ति हड़प कर प्रसिद्धि प्राप्त करता है। 'प' दरअसल प्रतिष्ठित कलाकार था इसीलिए उसके नाम से चित्र बिकते थे। वह 'ग' के चित्रों के बारे में कहता है- "ये चित्र अगर 'ग' के नाम से प्रदर्शित किए जाते तो कोई इन पर थूकने को भी तैयार न होता। इनकी इतनी प्रशंसा इसलिए नहीं हो रही है कि ये वास्तव में बहुत अच्छे चित्र हैं, बल्कि इसीलिए कि इन्हें 'प' ने बनाया है"[1] कमजोर आदमी की मज़बूरी और इस कुव्यवस्था को लेखक ने बेहतरीन अंकन किया है। 'ग' की पत्नी सोनिया इस व्यवस्था की मज़बूरी के कारण ही वैश्या बनती है- "मैं भी काम ढूंढ़-ढूंढ़कर तंग आ चुकी थी। कई-कई रोज़ तक हमें फाक़े करने पड़ते। यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। कुछ-न-कुछ तो करना ही था आखिरकार मैंने वह निशचय किया जो कोई स्त्री हर तरफ से निराश होकर करती है। मैंने फैसला किया कि मैं अपना शरीर बेचूंगी।"[2]

1975 में प्रकाशित 'छाको की वापसी' उपन्यास की केन्द्रीय विषयवस्तु अपने वतन से विस्थापित बिहारी मुसलमानों के मानसिक द्वंद्व को उजागर करती दिखाई देती है। विस्थापन के शिकार समाज की मानसिक अवस्था को बखूबी समझते हैं एवं सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यख्या भी प्रस्तुत करते हैं। बंगाली और बिहारी मुसलमानों का भेद पूर्वी पाकिस्तान में बसे भारतीय मुसलमानों को परायी जमीन पर अजनबी बना देता है। इस स्थिति को शब्दबद्ध करते हुए गोपाल राय लिखते हैं, "देश के विभाजन के बाद बिहार से पूर्वी पाकिस्तान गये मुसलमानों के मोहभंग का अनुभुतिपूर्ण अंकन किया गया है। बिहार के मुसलमान पूर्वी पाकिस्तान पहुँच कर न तो वहाँ की जमीन, भाषा और संस्कृति से जुड़ पाते हैं और न ही अपनी जमीन से पूरी तरह से कट पाते हैं। अपने वतन के प्यार की कीमत उन्हें पराये मुल्क में जाकर मालुम होती है। 'बंगाली' और 'बिहारी' मुसलमान का भेद उन्हें वहाँ अजनबी बना देता है। कुछ ही दिनों में ये मुहाजीर भारत में छूट गए सम्बन्धियों और माहौल में जीने के लिए तड़पने लगते हैं,

छटपटाते हैं और सिर धुनते हैं। पर कानून उन्हें लौटने नहीं देता। इस विवशता की मनःस्थिति का उपन्यासकार ने बहुत मार्मिक अंकन किया है।"[3]

बदीउज़्ज़माँ अपने उपन्यास में इस बात पर विशेष बल देते हैं कि हिंदुस्तान के मुसलमानों द्वारा पाकिस्तान के पक्ष में वोट देने के पीछे आर्थिक, सामाजिक और सुरक्षा का कारण प्रमुख था। विभाजन के दौरान बहुत कम गरीब परिवार पाकिस्तान गए थे। पाकिस्तान या तो जमींदार मुस्लिम गए थे या पढ़े-लिखे जिन्हें अच्छी नौकरी मिल सकती थी। जमींदार इसलिए गए थे क्यूंकि उनकी जमींदारी समाप्त होने वाली थी। ये वर्ग पाकिस्तान में सुखद जिन्दगी की लालसा लिए हुए था। इनकी आँखों में पट्टी बंधी हुई थी। लेकिन छाको का जाना महज एक इत्तेफाक था वो जानबूझकर नहीं गया था उसका जाना इलाही मास्टर द्वारा एक फरेब था। बदीउज़्ज़माँ पाकिस्तान जाने वालों के विषय में लिखते हैं कि "जिनको जाना था वह बंटवारे के तुरंत बाद ही चले गये थे। जाने वालों में सब-के-सब नौकरी पेशा लोग थे या फिर वे लोग थे जिनके पास काफ़ी रुपया पैसा था। हाजी अब्दुल करीम पाकिस्तान बनने के तुरंत बाद ही ढाका चले गये थे।...हबीब भाई बैंक में अफसर बन गए हैं और मोटी तनख्वाह पा रहे हैं।...मोहल्ले में पढ़े-लिखे खुशहाल लोग वैसे भी बहुत कम थे और पाकिस्तान बनने के बाद उनकी तादाद और भी घट गयी थी। लेकिन जुलाहे, दरजी, राज मजदूर, कसाई और इस तरह के निचले तबके के लोग मोहल्ले में वैसे ही मौजूद थे जैसे पहले थे। इनकी तादाद बढ़ी ही थी घटी नहीं थी। इसलिए छाको का पाकिस्तान जाना मुझे अजीब सा लग रहा था, जैसे कोई ऐसी घटना घटी हो जिसकी उम्मीद न हो।"[4]

हबीब भाई और गांधी भाई इन दोनों पात्रों के वाद-विवाद के माध्यम से लेखक ने दो भागों में बंटे तत्कालीन मुस्लिम समाज की मानसिक परिस्थितियों को स्पष्ट करने की कोशिश की है। जिनमें गांधी भाई राष्ट्रवाद के समर्थक हैं। वे भारतीयता में अधिक विश्वास रखने वाले मुस्लिम जनमानस का अगुआ है। हबीब भाई पाकिस्तान का समर्थक है। वह पाकिस्तान की

परिकल्पना करते हुए लोगों को बताते फिरता है कि पाकिस्तान किसी भी सूरत में बन कर रहेगा। कौम के दुश्मन भी इसे रोक नहीं सकता है। वह गाँधी भाई के विचारों का विरोध करते हुए कहता है कि "आप जैसे गद्दारों के लिए यक़ीनन पाकिस्तान एक ख्याली और नकली जन्नत हो लेकिन सच्चे मुसलमानों के लिए वह एक जीती जागती हक़ीकत है। वह उनके ख्वाबों और हौसलों की ज़मीन है। वहाँ वह हिन्दुओं के जुल्म से हमेशा-हमेशा के लिए आज़ाद हो सकेंगे।"[5] विभाजन के बाद बिहार से ढाका (पाकिस्तान) गए हबीब भाई कुछ ही दिनों में वहाँ की सच्चाई से अवगत होता है। और उन्हें वहाँ की कल्चर बिल्कुल अच्छी नहीं लगती इसी वजह से वे वहाँ रह पाने में असमर्थता जाहिर करते हैं। बदीउज़्ज़माँ यहाँ मुसलमानों के उस मिथक को तोड़ते हैं कि पूरी दुनिया के मुसलमान एक है। उनके बीच कोई मतभेद नहीं है। पूर्वी पाकिस्तान गए बिहार के मुसलमानों के साथ वहाँ बंगाली मुसलामानों द्वारा अत्याचार किये जाते हैं। इन बिहारियों को वे लोग पसंद नहीं करते वे लोग इनके साथ भेद-भाव करते हैं। छाको भी पाकिस्तान जाकर अपने वतन को भूल नहीं पाता है। वह जनवा को हमेशा पत्र लिखकर गया के मुहर्रम की खबर लेता है और हमेशा मुहर्रम के लिए पाँच रूपए भेजता है। छाको का शरीर भले पाकिस्तान में हो परन्तु उसकी आत्मा गया में ही बसती है। बदीउज़्ज़माँ के इस उपन्यास की खास बात यही है कि वह पूरे उपन्यास में बिहारी मुसलामानों के देश से बिछड़ने की पीड़ा को चित्रित करते चलते हैं।

छाको सिलाई का काम जानता है परन्तु उसके गाँव में पर्याप्त अवसर न होने के कारण वह भटकते हुए बांग्लादेश पहुँच जाता है। वहाँ अनजाने में ही सही वह वहाँ का नागरिक बन जाता है और जब वह अपने वतन में वापिस आना चाहता है तब उसे सरहद की क़ानूनी बेड़ियाँ जकड़ लेती है। यह बेड़ियाँ इतनी शख्त होती है कि इसे तोड़ पाने में छाको असफल रहता है। जब वह वीजा लेकर भारत वापिस आता है तब उसे खाजे बाबु से यह नादानी भरा सवाल करना पड़ता है कि "का हम हिन्दुस्तानी न बन सका ही?"[6] छाको की विडंबना देखिये उसकी जवान लड़की शादी करने योग्य हो चुकी है। उसके लिए लड़के भी देखे जा रहे हैं लेकिन छाको अब यहाँ का

नहीं रहा। उसे वीजा की अवधि समाप्त होते ही वापिस चला जाना पड़ेगा। छाको अपनी जमीन के उस खाली टुकड़े को करुण आँखों से देखता है, जहाँ कभी उसका घर था। जहाँ उसका बचपन बिता था। जहाँ उसका दोस्त रहता है। वह उस घर को छोड़कर वापिस नहीं जाना चाहता है। उसके मन की उदासी को देखकर खाजे को उसके बच्चपन की वह घटना याद आती है जब "फल्गु नदी के उस पार गैरैया के घोंसले को अपनी गुलैल से तहस-नहस करके छाको इसी तरह उदास हो गया था"[7] छाको दरअसल अनपढ़ और भोला भाला नागरिक है जिसे कानून का ज्ञान नहीं, जो कभी दिमाग से नहीं सोचता। वह तो केवल दिल की सुनता है और दिल की भाषा समझता है। वह तो सिर्फ इतना जानता है कि वह गया का निवासी है और उसे वहाँ रहने से कोई रोक नहीं सकता। इसीलिए वह खाजे बाबु से कहता है कि "जेहल दे दे चाहे फाँसी हमतो छोड़ के न जैबई अपना घरवा"[8] परन्तु सच्चाई यह है कि अब वह यहाँ की नागरिक नहीं बन सकता है। लेखक ने बड़ी संजीदगी से विभाजन के बाद अल्पसंख्यकों के अस्त-व्यस्त जीवन का यथार्थ चित्रण किया है।

'अपुरुष' 1976 का उपन्यास है जिसमें लेखक ने मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं को रेखांकित करने की कोशिश की है। धीरे-धीरे सरकारी तंत्र के कमजोर होने तथा प्राइवेट सेक्टर की तरफ आकर्षित होते युवा की कहानी है। जिसका नायक अपने निर्णय को लेकर आश्वस्त नहीं है। सरकारी तंत्र कमजोर मध्यवर्गीय समाज को मूलभूत सुविधाओं से वंचित कर देता है। साठोत्तरी समय में सरकार के प्रति मोहभंग की स्थिति को लेखक अपने साहित्य में बखूबी दिखाने की कोशिश करते हैं।

इस सन्दर्भ में इनका तीसरा उपन्यास 'छठा तंत्र' का उल्लेख करना आवश्यक है। इस उपन्यास को भी लेखक ने प्रतीकात्मक शैली में लिखा है। लेकिन यह उपन्यास 'एक चूहे की मौत' उपन्यास की तरह सफल नहीं हो पाया। इसमें देश में लागु की गई आपातकाल की स्थिति से निर्मित परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। इस सन्दर्भ में गोपाल राय ने लिखा है कि-

"आज की शोषण पर आधारित राजनीतिक स्थिति का अंकन किया गया है। इस कथासंसार में चूहे कमजोर और शोषित जनता के प्रतिक हैं, जबकि बिल्लियाँ शोषकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यदि जनता के मन में कभी विद्रोह की भावना जन्म लेती है तो उसे दबाने के लिए शोषक वर्ग दंड और प्रलोभन का सहारा लेता है और एक ऐसे तंत्र का निर्माण करता है जिसमें शोषण की प्रक्रिया अबाध रूप से चलती रहती है और जनता उसका विरोध नहीं कर पाती इस प्रकार शोषकों का छठा तंत्र बरकरार रहता है"[9] लेखक इस उपन्यास में यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि विकट समय में अपने भी मौकापरस्त बन जाते हैं। लाभ देखकर अपनों के साथ ही गद्दारी करने से नहीं चुकते हैं।

'सभापर्व' 1994 में बदीउज्ज़माँ की मृत्यु के बाद प्रकाशित होता है जो अधुरा और अव्यवस्थित है। इस उपन्यास को लेखक ने आत्मकथात्मक शैली में लिखा है। उन्होंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि देश विभाजन के पीछे साम्रज्यवादी शक्तियाँ लगातार सक्रिय रही हैं। इस सदर्भ में रामचन्द्र तिवारी जी लिखते हैं कि - "सच्चाई तो यह है कि अन्याय, अधर्म, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, सत्ता-प्रेम, वर्चस्व-स्थापन, नारी-अपमान और जनता के शोषण की जो कहानी महाभारत के सभापर्व के समय से शुरू हुई, वह आज भी पूरी नहीं हुई। लोगों के चेहरे बदल गए हैं किन्तु मन की भीतरी परतों में पशुता अब भी जीवित है। कदाचित इसलिए लेखक ने उपन्यास का नाम 'सभापर्व' रखा है।"[10] इस तरह से नई कहानी आन्दोलन के दौर में अपने लेखन की शुरूआत करने वाले बदीउज्ज़माँ की रचनाओं में साठोत्तरी प्रवृत्तियों का विस्तार दिखाई देता है। इन्होंने अपने समय में चलने वाले विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों से स्वयं को आबद्ध नहीं किया। उन्होंने उन्हीं विषयों पर अपनी कलम चलाई जिसका अनुभव अपने आस-पास के जीवन से महसूस कर रहे थे। अपने समाज और संस्कृति से इतर उन्होंने साहित्य रचना नहीं की है। उन्होंने पर्याप्त कहानियाँ भी लिखी हैं लेकिन साहित्य में अपने उपन्यासों के लिए जाने जाते हैं। इनके उपन्यासों में विविधता के साथ रूपकों का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है। 'एक चूहे की मौत'

तथा 'छठा तंत्र' उपन्यास में इन प्रयोगों को देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके अन्य उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मुसलमानों की जिजीविषा एवं नियति की व्याख्या नज़र आती है। इन्हें भारतीय संस्कृति और सभ्यता की गहरी समझ है जिसकी झलक इनके उपन्यासों में देखी जा सकती है। इस दृष्टि से बदिउज्ज़माँ शानी और राही मासूम रज़ा की परंपरा को विस्तार देते दिखाई देते हैं।

सन्दर्भ सूची:

1. बदीउज़्ज़माँ, एक चूहे की मौत, पृष्ठ-202
2. वही, पृष्ठ-66
3. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-344
4. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-15
5. वही, पृष्ठ-131
6. वही, पृष्ठ-169
7. वही, पृष्ठ-186
8. वही, पृष्ठ-186
9. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-344
10. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, पृष्ठ-233

3.3 गुलशेर खां शानी

हिंदी साहित्य में साठोत्तरी दौर के प्रमुख लेखक के रूप में गुलशेर खां शानी का नाम लिया जाता है। शानी जिस परिवेश से आते हैं वहाँ साहित्यिक परिवेश का नितांत अभाव देखा जाता है। साहित्य में विशेष रूचि शानी को साहित्यिक उत्कर्ष पर लेकर जाता है। शानी के कथा साहित्य में व्यक्त परिवेश मूलतः मुस्लिम परिवेश है, जो विशेष आलोचना की अपेक्षा रखती है। अपने उपन्यास 'काला जल' में लेखक ने भारतीय समाज में व्याप्त सामासिक संस्कृति को रेखांकित किया है। नई कहानी आन्दोलन के प्रारंभ में जिस तरह अस्मिता के प्रश्न हिंदी साहित्य में उभरकर आते हैं उस सन्दर्भ में यदि शानी के साहित्य का मूल्यांकन किया जाए तो पता चलता है कि इनके साहित्य में मुस्लिम अस्मिता का अलग ही स्वरूप दिखाई देता है। इस उपन्यास का मुस्लिम समाज अपनी सहभागिता को लेकर सचेत नज़र आता है, उसकी चेतना अस्मिताओं की सीमाएं लांघकर बाहर की दुनिया देखने और उससे संबंध बनाने के लिए आतुर है। लेखक ने ऐसे चरित्रों की रचना की है, जो सदियों से हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर निर्मित सामाजिकता की परिणिति है। यह एक सहज प्रक्रिया है जिसे लेखक ने अपने साहित्य में व्यक्त किया है। विभिन्न समाजों का निर्माण इन्हीं प्रक्रियाओं की परिणिति हैं। विभिन्न समुहों का अंतर्संबंध कायम होना एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। लेखक ने इस उपन्यास में दरोगाइन के रूप में एक ऐसे चरित्र की निर्मिति की है जो एक मुसलमान से विवाह करती है और लम्बे समय तक उसके साथ अपने प्रेम संबंध को निभाती है। बाहर से इस्लाम को अपना लेने के बावजूद वह चरित्र अपने ज़ेहन में लक्ष्मी को बसा कर रखती हैं। मिर्ज़ा के साथ उसका संबंध किसी को पसंद नहीं आता है। वह लगातार विरोधों का सामना करती हैं। इस सन्दर्भ में इस्लामिक कट्टरपंथ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शानी लिखते हैं कि - "लेकिन उस शाम को मगरिब की नमाज़ के बाद कुछ सफ़ेद दाढ़ी वाले सज्जनों ने मिर्ज़ा का दरवाजा खटखटाया। पहले इधर-उधर की बातें हुईं, फिर दीन मज़हब की और आखिर में लोगों ने समझाया कि 'मियाँ!

मुसलमान की औलाद हो कर यह क्या हरामखोरी कर रहे हो? खुदा के वास्ते अपने दीन मज़हब का ख़याल करो। किसी भले घर की लड़की से ब्याह रचाओ और इस गुनाह से निज़ात पाओ।"[1] 'काला जल' उपन्यास इस प्रकार के वाक्यों से भरा पड़ा है जिसमें इस्लामिक कट्टरपंथी भावना प्रकट होती है। असल में समाज में विकसित धर्म का स्वरूप धार्मिक कट्टरपंथियों की व्याख्या से सदैव अलग रहा है। लेखक ने इस उपन्यास में यह अलगाव लगातार बनाए रखा है।

'काला जल' उपन्यास सन् 1910 के आदिवासी विद्रोह से शुरू होकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के बाद तक की कथा को अपने में समेटे हुए है। सन् 1910 का विद्रोह आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन में ब्रिटिश हस्तक्षेप के विरुद्ध था। इस विद्रोह में आजादी प्राप्त करने का कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया था। इस विद्रोह को औपनिवेशिक सत्ता द्वारा आसानी से दबा दिया गया था। इस विद्रोह से जनसाधारण भी प्रभावित होते दिखाई देते हैं। बिट्टी रौताईन भी इसमें फंस गयी थी। विद्रोह शांत होने के बाद ही वह अपने घर वापस आ पायी थीं। उपन्यास में बस्तर के संघर्षपूर्ण जीवन के साथ-साथ सामासिक संस्कृति का अभूतपूर्व चित्रण मिलता है। पहली पीढ़ी के मिर्ज़ा करामत बेग हिन्दू युवती बिट्टी से प्रेम निकाह करते हैं। निकाह के बाद बिट्टी बी दरोगाइन कहलाती हैं। मिर्ज़ा बेग की मृत्यु के पश्चात बिट्टी बी दरोगाइन का निकाह रज्जू मियाँ से होता है। दोनों बार मुस्लिम समाज में शादी करने के बावजूद बी दरोगाइन हिन्दू संस्कारों से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाती हैं। वह हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति के वाहक के रूप में उभर कर सामने आती हैं। मुस्लिम संस्कृति के अनुसार अपना जीवन यापन करती हैं और साथ ही वह अपने कमरे में लक्ष्मी की पूजा भी करती हैं। इस बात से मिर्ज़ा बेग भी अवगत थे और रज्जू मियाँ भी। परन्तु कभी भी किसी ने इसका विरोध नहीं किया - "सुनने में यह बात अजीब सी लगती है, लेकिन ऊपर से चाहे वह बी दरोगाइन या इस्लाम बी हो, भीतर से वह बिट्टी ही बनी रही। उनके अपने लकड़ी के संदूक (जिसमें सारे जेवर और पैसे रहते) के पल्ले में लक्ष्मी की तस्वीर आखिर तक चिपकी रही और नहाने के बाद कमरा बंद करके लक्ष्मी पूजा

करना उन्होंने कभी बंद नहीं किया।...यह बात रौशन फूफा भी जानते थे, रज्जू मियाँ को भी मालूम थी, लेकिन चूँकि बी का यह नियम मिर्ज़ा के ज़माने से चला आ रहा था, अतः उसे बाधा देने का साहस किसी को भी नहीं हुआ।"[2] शानी की माँ भी एक हिन्दू महिला थीं जो सनातन धर्म का पालन करती थीं। आँगन में सदैव पूजा करती थीं। बिट्टी दरोगाइन का चरित्र देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक ने अपनी माँ को ही चित्रित किया है। शानी के बेटे फिरोज शानी अपने लेख 'पापा को गुस्सा क्यों आता है' में इस विषय में लिखते हुए कहते हैं कि - "मेरी दादी हिन्दू थीं, पूजा-पाठ करती थीं और घर के सेहन में एक तुलसी-चौरा था। वह बिला नागा पानी चढ़ाया करती थीं। सारा घर उनसे चलता था और उनके रौब का यह आलम था कि मेरे बाबा जिन्हें वह छोटे कहकर बुलाती थीं, उनकी एक आवाज पर हाथ बांधे सामने खड़े हो जाया करते थे। वे बहुत डरते थे अपनी माँ से।"[3] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में काफ़ी हद तक इस तरह की पारिवारिक संरचना का निर्माण संभव है। शानी एक सशक्त उपन्यासकार थे, जिनके साहित्य में निम्नवर्गीय परिवारों के जीवन की त्रासदी बेहतरीन ढंग से उभरकर सामने आती है।

'साँप और सीढ़ी' उपन्यास में लेखक ने आदिवासी अंचल में मजदूर वर्ग तथा आदिवासी समाज के जीवन की पीड़ा को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस उपन्यास का प्रकाशन 1960 में 'कस्तूरी' नाम से हुआ था। कालांतर में इसे 'साँप और सीढ़ी' के नाम से प्रकाशित किया गया। इस उपन्यास की भूमिका में लेखक लिखते हैं कि - "इतिहास चक्र बेहद क्रूर होता है। साँप सीढ़ी के खेल की तरह रोचक ही नहीं निर्मम भी। व्यक्ति हो या समाज, देश हो या संसार, जाति हो या धर्म, भाषा हो या संस्कृति, इतिहास किसी को कभी नहीं छोड़ता।"[4]

लेखक बड़ी ही संजीदगी से अपने साहित्य में आदिवासी जीवन और प्रकृति पर्यावरण के साथ उसके गहरे रिश्ते को दिखाते हैं। आदिवासी बाहुल अंचल अपने प्राकृतिक सौंदर्य एवं दुर्लभ संसाधनों के कारण जाना जाता है। इन संसाधनों पर अवैध कब्ज़ा करने वाले लोग स्थानीय लोगों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। इस उपन्यास में शोषित वर्ग के जीवन की कुंठा, अवसाद तथा उन पर

होने वाले उत्पीड़न को व्यक्त किया गया है। इनका उपन्यास 'एक लड़की की डायरी' 1964 में 'पत्थरों में बंद आवाज' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उपन्यास की विषयवस्तु अनीस बाजी और बानू नामक स्त्री के इर्द-गिर्द घूमता है। फ्लैशबैक शैली में शुरू हुई कथा लगातार वर्त्तमान और अतीत के बीच में विचलन करती दिखाई देती है। उपन्यास के आरम्भ में अनीस बेग औए बानू सहित कई लोग वनभोज के लिए तीरथ गढ़ प्रपात जाते हैं जहाँ अनीस बेग और अन्नू को आपत्तिजनक स्थिति में देखकर बानू का अनीस बेग से मोहभंग हो जाता है। अनीस बेग एक अविवाहित महिला है। वह जिस पुरुष से प्रेम करती थी उसी से उसकी सौतेली माँ का अवैध सम्बन्ध को देखकर उससे दूर हो जाती है । इसके पश्चात वह शिक्षित होकर स्वतंत्र रहकर अध्यापन का कार्य करती है। वह जहाँ भी जाती है गरीब परिवार की किसी लड़की को अपने पास रखकर उसकी शिक्षा का भार वहन करती है। बानू इसी तरह की गरीब लड़की है जिसे अनीस अपने साथ रखती है। बानू बहुत गरीब परिवार की लड़की है। जब अनीस बानू के घर जाती है तब वह सकते में आ जाती है और अपनी गरीबी के कारण हीनता बोध से ग्रसित दिखाई पड़ती है। "मैं बिल्कुल अक बका सी गयी थी। समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें किस तरह कहाँ बैठाऊं। चिराग जलाते समय रह-रह कर ग्लानी हो रही थी कि रौशनी होते ही हमारे घर की सारी गरीबी उजागर हो जाएगी।"[5] कितनी अजीब बात है कि लोग अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाना चाहते हैं। जबकि जिनसे छिपाया जाता है वह उस वास्तविकता से परिचित होता है।

इस उपन्यास में शानी ने अनीस के माध्यम से एक अविवाहित स्त्री की विडम्बना को यथार्थबोध के साथ चित्रण किया है। लेखक पुरुष होते हुए भी जिस तन्मयता से स्त्री मनोविज्ञान का अंकन किया है उसे पढ़कर स्त्री लेखिकाओं का स्मरण सहज ही हो जाता है। स्त्रियों की स्थिति समाज में क्या होती है इसका अंकन शानी ने अनीस के चरित्र चित्रण के माध्यम से किया है। समाज अनीस को अविवाहित महिला होने के कारण अलग दृष्टि से देखता है। ऐसी महिलाओं पर समाज के तथाकथित सभ्य पुरुषों की ललचाई हुई नज़रें भी रहती हैं और उसके

संबंधों को संदेह की दृष्टि से भी देखते हैं। अनीस के यहाँ जो भी पुरुष मित्र अथवा सम्बन्धी आते हैं उसे आस-पास के लोग संदेह की दृष्टि से देखते हैं। शानी इसके माध्यम से अविवाहित स्त्रियों के प्रति समाज की धारणा को अभिव्यक्त करते हैं।

'नदी और सीपियाँ' का प्रकाशन 1970 में हुआ था। इस उपन्यास के केंद्रीय पात्र स्वर्णा और हेमंत की सहायता से लेखक दाम्पत्य जीवन के महत्व को रेखांकित करते हैं। उपन्यास की कथावस्तु नगर के शिक्षित लोगों के वैवाहिक जीवन में आये तनाव के कारणों का पड़ताल करती नज़र आती है। उपन्यास की आधी कहानी पत्रों के माध्यम से प्रस्तुत हुई है। शानी ने इस उपन्यास में पत्रात्मक शैली का उपयोग करते हुए पात्रों की अत्यंत व्यक्तिगत बातों को व्यक्त किया है। इस तरह की बातें अमूमन अन्य लेखक बिना लाग-लपेट के सीधे-सीधे कह डालते हैं। परन्तु शानी बहुत सावधानी बरतते नज़र आते हैं। यह उनकी विशेषता है। बहरहाल कथावस्तु मुख्यतः स्वर्णा और उसके पति हेमंत के बीच उपजी खाई को दर्शाता है और इस खाई के कारण को व्यक्त करता है। दरअसल सम्बन्ध में आई इस दरार का कारण स्वर्णा की अतीत में की गयी भूल है जो समय के बयार में सुलगकर उसके दाम्पत्य जीवन को जला देती हैं। स्वर्णा जब कुँवारी थी तब वह दिलापुर नामक गाँव में रहती थी जहाँ उसकी एक अच्छी दोस्त नसरीन रहती थी। स्वर्णा उसके घर हमेशा आया जाया करती थी। एक दिन स्वर्णा जब नसरीन के घर गयी तो वहाँ नसरीन अनुपस्थित थी और उसके भाई इसरार ने उसका स्वागत किया। दोनों के बीच अनायास सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। स्वर्णा को बाद में ग्लानी महसूस होती है कि उसने अनजाने में ही सही लेकिन विवाह पूर्व अपनी पवित्रता खो दी। स्वर्णा की यह ग्लानी भाव जीवन पर्यंत उसका पीछा नहीं छोड़ती है। विवाह के बाद एक दिन अचानक हेमंत की मुलाकात उसके दोस्त इसरार से होती है। इसरार हेमंत को स्वर्णा और उसके बीच बने सम्बन्ध का जिक्र करता है। इसरार इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि वह जिस स्वर्णा की बात कर रहा है हेमंत उसका ही पति है। इस घटना के बाद हेमंत और स्वर्णा के मध्य अनबन, अलगाव हो जाता है। हेमंत इस बात को सह नहीं पाता है

कि उसकी पत्नी विवाह पूर्व अपनी पवित्रता खो बैठी है। हेमंत के मन की कुंठा आखिरकार उसे स्वर्णा से अलग कर देती है।

उपन्यास में वैवाहिक जीवन के संघर्ष एवं पुरुषों की पारंपरिक मानसिकता को दिखाया गया है जिससे आज भी पुरुष वर्ग मुक्त नहीं हो पाया है। आधुनिकता के खाल ओढ़े आज के पुरुष की अंतरात्मा में वही पुरानी कुंठित सोच व्याप्त है। यह सोच इतनी बेबुनियाद और तकलीफदेह है कि आज भी स्त्रियों को हर स्थिति में अपनी पवित्रता और ईमानदारी का सुबूत पेश करना पड़ता है और यदि कभी जीवन में अनजाने में कोई गलती हो जाती है तो उसके लिए उसे दण्डित किया जाता है, जबकि पुरुष स्वयं अपराधों की जामा पहने गर्व के साथ रहता है। शानी इस उपन्यास में पुरुषों के इस दोहरे मापदंड पर प्रहार करते नज़र आते हैं।

संदर्भ सूची:

1. शानी, काला जल, पृष्ठ-20
2. वही, पृष्ठ-87
3. जानकी प्रसाद शर्मा, शानी आदमी और अदीब, पृष्ठ-43
4. शानी, साँप और सीढ़ी, पृष्ठ-भूमिका
5. शानी, एक लड़की की डायरी, पृष्ठ-16

3.4 इब्राहीम शरीफ़

इब्राहीम शरीफ़ अपने समय के महत्वपूर्ण कहानीकार रहे हैं। इन्हें 'नयी कहानी' और 'सामानांतर कहानी' के सर्जक के रूप में जाना जाता है। इनकी कहानियों में उनके जीवनानुभवों का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। इनके जीवन में आस-पास घटित होने वाली घटनाएँ और पात्र विषयवस्तु के रूप में उनकी कहानियों में आते हैं। देखने में इनकी कहानियाँ बहुत ही साधारण और सपाट नज़र आती हैं। लेकिन गहरे यथार्थ को अभिव्यक्त करती हैं। इब्राहीम शरीफ़ ने अपने समय के समाज की पीड़ा को देखा व समझा था। वे स्वयं भोक्ता भी थे। इस नाते वे अपनी कहानियों में आम आदमी की लाचारी को दिखाते हैं। उनकी कहानियों एवं उपन्यास में वे सारी विद्रूपताएं उभर कर सामने आती हैं जिसमें बेरोजगारी, भ्रष्टाचारी, अर्थलोलुपता आदि नज़र आती हैं। उनके उपन्यास में धार्मिक कट्टरता एवं अमानवीयता को देखा जा सकता है। उनकी रचनाओं में आम आदमी पूरी आक्रोश सहित पदार्पण हुआ है जो व्यवस्था से प्रताड़ित है और पलायन को मजबूर है। उनके पात्र कोई काल्पनिक व गढ़ी गढ़ाई नहीं है बल्कि यथार्थ की पृष्टभूमि से उपजे हैं जो लगातार जीवन संघर्ष करता है।

इब्राहीम शरीफ़ के दो कहानी संग्रह प्रकाशित हैं - 'कई सुरजों की बीच' और ज़मीन का आखिरी टुकड़ा'। कई सुरजों के बीच कहानी संग्रह में इस शीर्षक से कोई कहानी नहीं है। इस संग्रह में कुल ग्यारह कहानी हैं पूर्वाभास, दिग्भ्रमित, पुर्जे, मर्यादाहीन, इंतज़ार, ज़ख्म, कथा हिन, प्रलाप, मौत, बौद्धिक और डर। 'ज़मीन का आखिरी टुकड़ा' कहानी संग्रह में इस शीर्षक से एक कहानी सहित कुल चौदह कहानी संगृहित हैं- गर्दिश के दिन, बहुत बड़ी लड़ाई, गणित, फैसले के बाद, फासला, आतिश, मरीचिका, विक्रय, ऊँचे आदमी, ये कब तक कहानी बनेंगे, खाली समय, प्रतिरूप, युगांतर और ज़मीन का आखिरी टुकड़ा। इस कहानी संग्रह में आर्थिक रूप से कमज़ोर परिवार की कहानी कही गयी है जो जीवन यापन करने के लिए मूलभूत आवश्यकताओं के लिए भी संघर्षरत हैं। उन तमाम आम आदमी की पीड़ा इस संग्रह में उजागर की गयी है जो

बेरोजगारी और महंगाई के मार से त्रस्त है। उनकी सारी कहानियाँ हिंदी साहित्य की धरोहर है उनकी कहानी के बिना हिंदी साहित्य का इतिहास अधुरा ही रहेगा। उनकी कहानी आम आदमी की कहानी है। उनकी कहानियों के पात्रों के विषय में रत्नेश सिन्हा ने कहा है कि - "इब्राहीम शरीफ़ ने शहरों, कस्बों एवं गाँवों में रोजी-रोटी-रोजगार के लिए कारुणिक पीड़ा तथा व्यवस्था की उपेक्षा की मार झेल रहे लाचार लोगों को अपनी कहानियों का पात्र बनाया।"[1]

इब्राहीम शरीफ़ एक कहानीकार के रूप में ऐसे समय की उपज है जब कहानी में आम आदमी गौण होते जा रहे थे। उन्होंने 'समानांतर कहानी' आन्दोलन के जरिये कहानी को उस झोपड़ी, खेत और असहाय व्यक्ति तक लेकर गए जो कहानी के मुख्य धारा से कटती जा रही थी। उन्होंने ज़मीन से जुड़े उस आम आदमी की बात को कहानी में कहने की एक बार फिर से ज़हमत उठाई जिसमें जीवन के असली चहरे समाहित हैं। ये आम आदमी उनके देखे सुने आम आदमी थे जिसके भोगे हुए यथार्थ एवं अपने अन्दर की बेचैनी को रचनात्मकता का जामा पहनाया। गरीब परिवार के युवा लेखक शरीफ़ जी निहायत संवेदनशील इंसान थे। इसी संवेदनात्मकता के सहारे ही उन्होंने कहानी को जीवंत किया और जिस काम को प्रेमचंद के बाद लेखकों ने धूमिल कर दिया था उसे ज़मीनी धरातल से एक बार पुनः जोड़ने का काम किया। उनकी कहानियों में छोटी-छोटी महत्वहीन लगने वाली स्थिति भी इतने मुखर रूप में प्रस्तुत हुई है कि सहज ही पाठक को अपनी तरफ आकर्षित करती है। अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि इब्राहीम शरीफ़ जी साठोत्तरी कहानी के प्रमुख हस्ताक्षर हैं और उनकी कहानी समकालीन परिस्थितियों का जीवंत दस्तावेज है।

'अँधेरे के साथ' (1972) इब्राहीम शरीफ़ का एक मात्र प्रकाशित उपन्यास है। इब्राहीम शरीफ़ एक ऐसे कथाकार हैं जो छोटी से छोटी गैरजरूरी लगने वाली घटनाओं को लेकर भी उससे इस तरह से कहानी का ताना बाना बुनते हैं कि वह संवेदात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाती है। दरअसल इब्राहीम शरीफ़ अपनी कहानियों की कथावस्तु अपने इर्द-गिर्द की घटी घटनाओं से

लेकर उसका कलेवर तैयार करते हैं। वास्तव में उनकी कहानी उनके जीवन से सम्बद्ध है। वे उन्हीं पात्रों को अपने उपन्यास में जगह देते हैं जो उस कथा के असली नायक हो सकते हैं, और जो उस किरदार को अपने असल जीवन में जी चुका हो, घटनाएँ उनके जीवन की सच्ची घटनाओं से मिलती-जुलती हो। लेखक उपन्यास के पात्र चयन के विषय में एक जगह लिखते हैं कि "उपन्यास के कथानक की मेरी परिकल्पना के अनुसार मुझे एक ऐसे युवक की ज़रूरत थी जो गरीब हो, परिस्थितियों का मारा हो, आक्रोश से भरा हुआ हो और साथ ही एक तरह से चुपचाप रहने वाला हो। ऐसे पात्र की कल्पना मैंने उपन्यास के नायक के रूप में क्यों की, इस पर गौर करने पर लगता है कि असल में मैंने ऐसे पात्र की कल्पना नहीं की थी बल्कि मेरे दिमाग में बसे हुए गंगाधरन के रूप में उपन्यास के पात्र को ऐसा बना दिया था। गंगाधरन भी ऐसा ही था, मेरे उपन्यास के 'मैं' जैसा गरीब, आक्रोशी मगर प्रायः चुप रहने वाला।"[2] गंगाधरन इब्राहीम शरीफ़ के कॉलेज का टाइपिस्ट था और वह पूरे मुस्लिम लीगी कॉलेज में एक मात्र अकेला सताया हुआ हिन्दू क्लर्क था, जैसे बत्तीस दांत के बीच एक अकेला जीभ। लेखक जब भी समुद्र किनारे घुमने जाता था तब साथ में गंगाधरन ज़रूर जाता था और दोनों साथ में अक्सर बियर पिते थे, पैसे न होने पर चाय पिते थे। और समुद्र किनारे घूमते थे। ऐसे ही घूमते-घूमते लेखक के दिमाग में यह उपन्यास लिखने का ख्याल आया। वे कहते हैं - "मैंने अपना उपन्यास 'अँधेरे के साथ' उस समय लिखा जब मैं केरल के एक कॉलेज में पढ़ाता था। जिस जगह मैं नौकरी करता था वहाँ से चौदह मील की दूरी पर स्थित कन्नूर का समुद्र-तट मेरे लिये अत्यंत प्रिय जगह थी। नौकरी के उन वर्षों के दौरान लगभग हर पंद्रह-बीस दिन के बाद मैं अपनी जगह से चौदह मील दूर चलकर उस समुद्र तट पर जाता और घंटों वहाँ बिताता था।... इस तरह, कन्नूर का समुद्र-तट मेरे लिए इतना सुपरिचित, इतना महत्वपूर्ण हो गया था कि जब मैं उपन्यास का खाका तैयार करने लगा तो पता नहीं क्यों, वह हर क्षण मेरे दिमाग में घुसा बैठा रहा। और सहज ही, ऐसे मौकों पर जब भी मेरा दिमाग समुद्र-तट को लेकर ऊपर-नीचे होता तो मेरा दोस्त गंगाधरन भी मुझे उसमें नज़र आता।

उसे छोड़कर उस समुद्र-तट की कल्पना करना मेरे लिए संभव नहीं था। इसलिए, जैसे ही मैंने उपन्यास में उस समुद्र-तट की पृष्ठभूमि लेने का फैसला कर लिया वैसे ही, मुझे लगा, गंगाधरन के 'चरित्र' को भी उसमें लेना जरूरी है। उपन्यास के लिए मैंने जैसे समुद्र-तट को स्वीकार कर लिया वैसे ही गंगाधरन को भी स्वीकार कर लिया"[3] इस प्रकार 'अँधेरे के साथ' उपन्यास का खाका निर्मित किया गया और उपन्यास का निर्माण यथार्थपरक हो सका।

'अँधेरे के साथ' उपन्यास लेखक के जीवन में घटित सच्ची घटनाओं से संबंधित है। फर्क केवल इतना है कि इसमें पात्र और घटनाओं को थोड़ी सी अलग परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। इसकी कथावस्तु में लेखक अपने गाँव और अपने मित्र के जीवन की समस्या को मिला दिया है। उपन्यास का आरंभ समुद्र तट से होता है जहाँ कथाकार आत्महत्या करने पहुँचा हुआ होता है। दरअसल वह इसलिए अपने जीवन को समाप्त करने आया होता है क्योंकि वह अपने समाज और वहाँ की व्यवस्था से तंग आ चुका हुआ होता है। अपने गाँव से दूर वह एक नौकरी करने गया था जहाँ उसे एक सौ पच्चास रुपये की तनख्वाह मिलाती है। उस ऑफिस का ऑफिसर भ्रष्ट आदमी है। वह प्रत्येक काम करने वाले से उसके तनख्वाह में से दस रुपये लेता था। उसके खिलाफ बोलने की हिम्मत कोई नहीं करता था। कथा नायक भी वहीं काम पर लगा था, परन्तु वह अपने हिस्से में से उसे पैसे देने से इंकार कर देता है। इसी वजह से कुछ दिन बाद वहाँ से उसकी नौकरी छुट जाती है। उसके बाद वह गाँव वापस चला आता है जहाँ उसकी नौकरी छूटने की खबर सुन उसके माँ-बाप परेशान हो जाते हैं और उसके बीमार पिता की मृत्यु हो जाती है। वह अपने पिता की ख़राब तबियत की जाँच कराने के लिए डॉ. के पास जाता है लेकिन पैसे न होने के कारण डॉ. नहीं आता है। इसी बीच उसकी माँ भी उचित इलाज के अभाव में चल बसती है। कथावाचक इन घटनाओं से बहुत आहत होता है और उस ऑफिसर एवं डॉ. के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है। इसीलिए वह समुद्र के तट पर उन सभी का नाम लिखकर उस पर प्रहार करता है। "मैं उस नाम पर पूरे वहशीपन के साथ कूद पड़ता हूँ। पैरों से दबाता हूँ, रगड़ता

हूँ...थूकता हूँ...कूद-कूद कर उसकी धज्जियाँ उड़ा देता हूँ। उसे इतना ज्यादा मारता हूँ कि लगता है, अब किसी हालत में वह बच नहीं पायेगा। महसूस होता है कि मेरे जूते, पैंट और पैर खून से लथपथ हो गए हैं। एक बार और खखार कर उस पर थूक देता हूँ और पैर धोने के लिए सागर में उतर जाता हूँ।"[4] वह इसलिए इस प्रकार बदला लेता है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में उससे बदला लेना संभव नहीं।

अपने पिता की मृत्यु के बाद कथानायक काम की तलाश में गाँव के चेयरमेन के पास पहुँचता है जहाँ उसे वोटर लिस्ट में नामों का हेरा-फेरी का काम मिलता है। जैसे हिन्दुओं का नाम काट कर मुसलमानों का नाम जोड़ना। कथावाचक को यह काम अच्छा नहीं लगता और वह इस काम को भी छोड़ देता है। इसके बाद वह गाँव में पुराने मंदिर की मरमत के काम में लग जाता है। लेकिन वहाँ से भी उसकी यह कहकर छुटी कर दी जाती है कि हिन्दू के मंदिर में मुसलमानों के काम करने से दोनों मजहबों के बीच तना तनी होगी। इस काम से उसे हटाने में उसी चेयरमेन का हाथ रहता है। इसीलिए कथावाचक उस चेयरमेन का भी नाम समुद्र के किनारे रेत पर लिखकर उसे मारकर बदला लेता है -"मैं बायें पैर का जूता उतार लेता हूँ और उसे हाथ में लेकर बालू पर खासे बदरूप अक्षरों में लिखता हूँ- चेयरमेन...। उस नाम के ऊपर उसी जूते से लिखता हूँ- चोर..बदमाश... लुच्चा...हरामजादा...सूअर का बच्चा...

अप्रयत्न मेरा जूता उन अक्षरों पर बजने लग जाता है ...ताड़...ताड़...ताड़...

लगता है, जूता टूट गया है...दूसरे पैर से जूता उतार लेता हूँ और दोनों हाथों में पकड़े पूरी ताकत से उस नाम को पीटने लगता हूँ।"[5] इस प्रकार यह पूरा उपन्यास एक ऐसे गरीब लड़के की कहानी है जो समाज में बदलाव चाहता है, किसी कीमत पर गलत कामों द्वारा पैसा नहीं कमाना चाहता है। मजहब को उसके नेक कामों के लिए ही प्रोत्साहन देता है। उसके आर में गलत काम करने वाले से गुस्सा होता है। चेयरमेन उसे मजहब के नाम पर गलत काम करवाना चाहता है

परन्तु वह उसके इस काम में साथ न देकर उसके खिलाफ चुनाव में प्रचार करता है और उसके धर्म विरोधी काम का पर्दा फाश करता है। परन्तु वह अकेले इस सिस्टम से लड़ नहीं पाता है और अंततः अपनी लाश को ताबूद में पाता है। जिसे देखकर वह परेशान हो जाता है और दौड़ने भागने लगता है। लेखक ने उपन्यास के अंत में फैंटेसी का सहारा लिया है।

संदर्भ सूची:

1. सं किशन कालजयी, संवेद (अगस्त 2022), पृष्ठ-9
2. सं. भीष्म साहनी, आधुनिक हिंदी उपन्यास, पृष्ठ-430
3. वही, पृष्ठ-429
4. इब्राहीम शरीफ़, अँधेरे के साथ, पृष्ठ-21
5. वही, पृष्ठ-102

3.5 मेहरुन्निसा परवेज़

प्रारंभ से मेहरुन्निसा परवेज़ को कहानियाँ लिखने का शौक था। उनकी पहली कहानी 'पाँचवी का कब्र' 1963 में 'नई कहानी' पत्रिका में प्रकाशित होती है। हिंदी कहानी के इतिहास में साठोत्तरी दौर की प्रमुख लेखिका के रूप में इनका नाम लिया जाता है। इनकी कहानियों में लगातार मूल्यहीन होते समाज की संवेदना को व्यक्त की गयी है। इनके प्रमुख उपन्यास 'आँखों की दहलीज' (1969), 'उसका घर' (1972), 'कोरज़ा' (1977), 'अकेला पलाश' (1981), 'समरांगण' (2002) तथा 'पासांग' (2004) हैं। इनके उपन्यासों का फलक अत्यंत विस्तृत है। अपनी कहानी यात्रा के सन्दर्भ में लेखिका लिखती हैं - "मैंने सर्वप्रथम डायरी के रूप में लिखना शुरू किया, बाद में कहानी में उसे ढाला, मैंने अपनी पहली कहानी आदिवासी लड़की के जीवन पर लिखी थी, दो अक्टूबर 1963 में धर्मयुग में छपी थी। तब धर्मयुग एक प्रसिद्द पत्रिका थी। दूसरी कहानी एक कब्रिस्तान के तकियादार पर लिखी। तकियादार हमारे तथा दूसरों के घर में हमेशा मृत्यु का समाचार कहने आता था। वह एकदम से सपाट बयानी में अपनी बात बाहर के दरवाजे पर खड़ा रहकर कहता और चला जाता। कोई सुने अथवा नहीं सुने। तब टेलीफोन की सुविधा नहीं थी। इस कहानी का नाम 'पाँचवी कब्र' था जो अक्टूबर 1963 में ही नई कहानियाँ में छपी जिसके संपादक कमलेश्वरजी थे।"[1] हिंदी कहानियों के साठोत्तरी दौर में अनेक स्त्रियाँ लेखन के क्षेत्र को विस्तार प्रदान कर रही थीं। मेहरुन्निसा परवेज़ इसी परम्परा की लेखिका हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में स्त्री-जीवन की विसंगतियों को उजागर किया है। परम्परागत जीवन-मूल्यों का त्याग करके आधुनिकता का वरण करने वाली स्त्रियों के सामने नैतिक-मूल्यों के द्वंद्व की स्थिति इनकी कहानियों की विषयवस्तु बनती है। मुस्लिम समाज से ज़मीनी रूप से अवगत लेखिका अपने साहित्य में इस समाज को विस्तृत फलक प्रदान करती हैं। इनके औपन्यासिक स्त्री पात्र सशक्त और संवेदनशील हैं। वह अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में भी जीने की क्षमता रखती हैं।

इनका पहला उपन्यास 'आँखों की दहलीज' (1969) में प्रकाशित हुई थी। इस उपन्यास में मातृत्व से वंचित स्त्री के जीवन की कुंठा, निराशा, भटकाव तथा मुक्ति की तलाश की कहानी है। इस उपन्यास की नायिका तालिया मातृत्व से वंचित स्त्री की मनोदशा का प्रतीक बनकर उभरती है। भारतीय समाज में स्त्री की सम्पूर्णता उसके माँ बनने से मानी जाती है। मातृत्व विहीन स्त्री इस पितृसत्तात्मक समाज में एक बोझ के समान है। उसे अनेक सामाजिक कुंठाओं का शिकार होना पड़ता है। यह उपन्यास प्रेम, समाज और व्यक्तिगत पीड़ा के अंतर्संबंधों को व्यक्त करता है। तालिया का मातृत्व से वंचित रह जाना इस खोखले समाज के यथार्थ को उजागर कर देता है। प्रेम विहीन विवाह जिसका उद्देश्य सिर्फ़ बच्चे पैदा करना रह जाता है। इस उपन्यास की नायिका इसी तरह के रिश्ते को ढो रही है। इस क्रम में लगातार परिवार और समाज के सामन्ती मूल्यों के अमानवीय चक्र में उलझती नज़र आती है। माँ न बन पाना उसके भीतर इतना अपराधबोध पैदा कर देता है कि वह कुछ भी करने को तैयार हो जाती है। तालिया अपनी माँ का सह पाकर एवं अपने खालीपन को भरने के लिए जावेद से संबंध स्थापित करती है। तालिया की माँ को लगता है कि इस रास्ते तालिया माँ रूपी सुख को प्राप्त कर लेगी। तालिया नैतिकता और अनैतिकता के दायरों से आगे बढ़ जाती है। शमीम को पुनः पाकर वह अपराधबोध से ग्रसित हो जाती है और आत्महत्या करने की नाकाम कोशिश करती है जिसमें वह मरते-मरते बच जाती है। "तालिया ने दुपट्टे को कमर में कस लिया। उसके मन आया शमीम के लिए चिट्ठी छोर जाए। नहीं, शमीम के लिए वह कोई सुराख़ नहीं छोड़ जाएगी, जो उसे बाद में तंग करे। उसने आसपास देखा, गली सूनी ही थी। वह खिड़की पर चढ़ गई और जैसे पानी में तैरने की लिए छलांग लगाते हैं, वैसे ही सिर के बल छलांग लगा गई।"[2] उपन्यास का अंत घोर सामंती और पितृसत्तात्मक है जिसके अंतर्गत तालिया शमीम का विवाह जमीला से करवाती है तथा स्वयं कहीं निकल जाती है।

'उसका घर' उपन्यास का प्रकाशन 1972 में हुआ था। यह उपन्यास तीन औरतों के जीवन के इर्द-गिर्द घुमता नज़र आता है। आधुनिकता का लबादा ओढ़े हुए समाज में औरतों के लिए

निर्मित दोहरे जीवन-मूल्यों की व्याख्या इस उपन्यास में दिखाई देती है। सोफिया, एलेमा और रेशमा इस समाज में प्रेम और मानवता को तलाश करती रह जाती हैं। उनके व्यवहार और अनुभव अलग-अलग हैं। इनकी व्यक्तिगत इच्छाओं और सामाजिक अनुभवों में बहुत गहरा अंतर दिखाई देता है। भारतीय समाज की परंपराओं में टूटती-बिखरती स्त्री के जीवन को यह उपन्यास बखूबी दिखा पाता है। इसमें अपने ही भाई के हाथों बहन की जिन्दगी बर्बाद होती है। लेखिका ने एक विवश औरत की कहानी कह कर उसकी समस्या और आत्मनिर्भर होने की कहानी भी कही है। दरअसल इस उपन्यास में ऐलमा नामक एक स्त्री की कहानी है जिसे दम्मे की बिमारी की वजह से उसका पति उसे तलाक दे देता है। ऐलमा अपना जीवन यापन हेतु स्कूल में नौकरी कर लेती है। उसका भाई विलासी एवं मक्कारी है। धोके से अपनी बहन के पैसे से ऐश-मौज करता है। ऐलमा अपने बॉस के चक्कर में फंस जाती है उसे लगता है कि उसका बॉस उसे प्यार करता है परन्तु वह लडकियाँ बदलता रहता है। इससे वह दुखी होती है परन्तु उससे संबंध नहीं तोड़ पाती है। इस संबंध को लेकर रेशमा कहती है "दीदी मैं नहीं जानती तुम्हारा यह रास्ता सही है या गलत, यह तो समय ही बतलायेगा, पर मैं ज़रूर कहूँगी यह अच्छा ही हुआ। तुम्हारे जीवन में कुछ चेंज होना ही था। इतना लम्बा जीवन अकेले कटता भी तो कैसे?"[3] इस पूरे उपन्यास में नारी की दयनीय स्थिति का वर्णन मिलता है। रेशमा पुरानी परम्पराओं को तोड़ती हुई नजर आती है। रेशमा देव से प्रेम करती है और माँ के विरुद्ध जाकर अविवाहित होकर भी देव के साथ उसके घर में रहती है। न सिर्फ रहती है एक बेटी को जन्म भी देती है। उपन्यास के अंत में ऐलमा सारे रिश्ते तोड़कर मद्रास चली जाती है। उपन्यास में लेखिका ने यौनशोषण और सयुंक्त परिवार के ह्रास का मार्मिक चित्रण किया है। नारी जाति की वेदना को अभिव्यक्त करने में यह उपन्यास सफल रहा है।

'कोरज़ा' 1977 में प्रकाशित मेहरुन्निसा परवेज़ का तीसरा उपन्यास है। कोरज़ा का अर्थ है अनाज के कट जाने के बाद बच गयी बालियाँ जो खेतों में रह जाती हैं। इस उपन्यास में

मध्यवर्गीय और निम्नमध्यवर्गीय मुस्लिम समाज के यथार्थ का चित्रण किया गया है। मुख्य रूप से बस्तर के आदिवासियों के बीच मुस्लिम स्त्रियों के जीवन की दशा को प्रधानता दी गयी है। आदिवासियों के ऊपर होने वाले शोषण तथा शहरीकरण के प्रभाव को लेखिका ने अभिव्यक्ति दी है। उपन्यास का आरंभ रब्बो की बेटी रन्नो की शादी से होता है जिसमें नसीमा भी उपस्थित रहती है। लेखिका पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग करते हुए कहानी को बस्तर की तरफ लेकर जाती हैं। लेखिका समाज में दो पीढ़ियों के अंतर को अभिव्यक्त करती हैं। मेहरुन्निसा 'कोरज़ा' की स्त्री पात्र साजो के जीवन के संघर्ष को सशक्त तरीके से अभिव्यक्त करती है। अपने पति की मृत्यु के बाद अपने तीन बच्चों को संभालने वाली साजो कई बार समाज के दोहरे मूल्यों तथा विसंगतियों का शिकार होती दिखाई देती है। साजो अपने घर के लिए अपने जिस्म को त्याग कर देती है। लेखिका इस घटना को लिखती है कि "रात को खाना खाने के बाद तक भी कोई कुछ तय नहीं कर पाया था की घर छोड़ना है या नहीं। जब पूरा घर गहरी नींद सो रहा था तब नानी ने देखा एक साया उठकर बाहर जा रहा है। पहले तो वह हतप्रभ होकर रह गयी, फिर धीरे-धीरे उसका सिर झुक गया। मौन समझौता, मौन स्वीकृति।"[4] राबिया के व्यक्तित्व में भी परिवर्तन की झलक दिखाई देती है। नसीमा की रब्बो आपा के जीवन का संघर्ष भी कम नहीं है। उसके पैदा होने के साथ माँ का साया उसके सिर से उठ जाता है। कुछ समय बाद पिता शादी करता है और सौतेली माँ लेकर आता है। इन सब के बीच रब्बो के जीवन की यातना का सिलसिला कम नहीं होता है। उसका निर्णय पितृसत्तात्मकता के दायरों के भीतर ही नज़र आता है। अपनी पहचान से वंचित यह चरित्र लगातार शोषण का शिकार होती है। कम्मो एक ऐसा पात्र है जो लीक से हटकर चलती है। संवेदनात्मक रूप से वह काफ़ी आत्मनिर्भर है।

'अकेला पलाश' (1982) यह उपन्यास मुख्य रूप से शिक्षित और संभ्रांत परिवारों में स्त्रियों के ऊपर होने वाले मानसिक और शारीरिक शोषण को अभिव्यक्त किया है। इसमें बस्तर के एक शिक्षित मुस्लिम परिवार का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में अपने अय्याश पति से

तंग आकर पत्नी तहमीना का निकाह अपने पिता के दोस्त से करवा देती है। वैवाहिक जीवन की विसंगतियों के कारण तहमीना भटकाव का शिकार होती है। जल्दी ही वह इससे मुक्त होकर अपनी विशेष छवि बनाने में कामयाब हो जाती है।

2002 में प्रकाशित 'समरांगण' उपन्यास का परिवेश 1947 का है। इसका केन्द्रीय पात्र पंडित गोपीनाथ दंगों के दौरान दिल्ली से पलायन करके कश्मीर के जबलपुर पहुँच जाता है। अंग्रेजों से मिलकर वह इनकी सभ्यता के प्रति आकर्षित होता है और इनका वफादार बन जाता है। इस क्रम में वह नैतिक पतन का शिकार होता है। अंग्रेजों के द्वारा जब इसके साथ विश्वासघात किया जाता है और उसका बेटा प्राणघाती हमले का शिकार होता है उसके बाद गोपीनाथ को अपनी गलती का एहसास होता है। इनका उपन्यास 'पासांग' 2004 में प्रकाशित होता है जिसकी नायिका कनी है। इस उपन्यास का परिवेश बस्तर का मुस्लिम परिवार है। इस उपन्यास में माता-पिता के प्रेम से वंचित कनी के बाल मन पर पड़ने वाले प्रभावों को अभिव्यक्ति दी गयी है। उसकी माँ जो दूसरी शादी कर चुकी है। कनी का पालन पोषण उसकी दादी के द्वारा किया जाता है। उसकी जिन्दगी में होने वाले बदलावों को लेखिका बहुत संजीदगी से प्रस्तुत करती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों के अंदर एक असहनीय पीड़ा दिखाई पड़ती है जिसकी टिस उनके उपन्यासों में देखने को मिलती है। इन उपन्यासकारों के यहाँ मुस्लिम समाज की विसंगतियों का यथार्थ अंकन हुआ है। इन उपन्यासकारों के यहाँ कोई कोरी अनुभव नहीं है बल्कि भोगा हुआ यथार्थ नज़र आता है। इन उपन्यासों में मुस्लिम समाज में व्याप्त समस्याओं का यथार्थपरक चित्रण हुआ है। नारी-जीवन के टूटते मूल्य, सामाजिक अनाचार आदि का संवेदनशील एवं मार्मिक प्रस्तुतीकरण हुआ है।

संदर्भ सूची:

1. मेहरुन्निसा परवेज़, पुनश्च पत्रिका, पृष्ठ-145
2. मेहरुन्निसा परवेज, आँखों की दहलीज, पृष्ठ-114
3. मेहरुन्निसा परवेज, उसका घर, पृष्ठ-31
4. मेहरुन्निसा परवेज, कोरजा, पृष्ठ-122